Year : 3
Issue : 14
Oct.-Dec., 2014
www.chintanresearchjournal.com
Impact factor : 2.87

ISSN : 2249-2976
Price : ₹ 500

(Art, Humanity, Social Science, Commerce, Law, Management & Science Subjects)
(Indexed & Listed at : Ulrich's Periodicals Directory ©, ProQuest. U.S.A.)
(Indexed & Listed at : Copernicus, Poland & Research Bib, Japan)

(International Refereed)

Pramāna

Research Journal

Editor-in-Chief
Acharya Shilak Ram

आचार्य अकादमी

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्

Acharya Academy
Bharat

ISO 9001 : 2008

Scanned by CamScanner

Contents

संपादकीय

Philosophy

- **Philosophy Invalidity of *Savikalpaka Pratyaksa* in Buddhist Philosophy : A Critical Study** 13-17
  -Sujit Roy
- सत्कार्यवाद- सांख्यदर्शन, गीता तथा शांकर वेदान्त के सन्दर्भ में 18-24
  -डॉ.ममता भाटी

English Literature

- **Henrik Ibsen's A *Doll's House* : A Study** 25-27
  -Manjeet Dhillon

Education

- **Inclusive Education in India- An Overview** 28-34
  -Suman Thakran

संस्कृत साहित्य

- गीता का कर्मयोग 35-38
  -डॉ. पल्लवी शर्मा
- गीता की वैश्विक दृष्टि का वैदिकत्व 39-43
  -डॉ० सुधीर कुमार
- जैनदर्शनानुसार आस्रव का स्वरूप 44-49
  -मनीषा

Law

- **Parliamentary Privileges : A Critical Approach** 50-55
  -Shreya
- **Eco-Investment and Indian Laws** 56-59
  -Ankit Kumar
- **Res Judicata : Applicability In Tax Matters** 60-65
  -Sarita Sharma

Scanned by CamScanner

दर्शनशास्त्र
International Refereed
Impact Factor : 2.87
Pramāna Research Journal (ISSN : 2249-2976)
Year : 3, Issue : 14, Oct.-Dec. 2014 (Page No. 18-24)

सत्कार्यवाद- सांख्यदर्शन, गीता तथा शांकर वेदान्त के सन्दर्भ में

डॉ.ममता भाटी
असिस्टेंट प्रोफेसर
महिला पी. जी. महाविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

शोध-आलेख सार

शंकराचार्य के अनुसार सत् (वास्तविक) वह वस्तु है जिसके सम्बन्ध में हमारी चेतना कभी विफल नहीं होती और असत् (अवास्तविक) वह वस्तु है जिसके सम्बन्ध में हमारी चेतना विफल रहती है। अतः पदार्थों के सम्बन्ध में हमारी चेतना बदलती रहती है क्योंकि वे परिवर्तनशील है, क्षणिक है परन्तु अस्तित्व के सम्बन्ध में नहीं बदलती है। अवास्तविक ने जो कि क्षणिक है, अपरिवर्तनशील वास्तविक को ढक रखा है जो कि नित्य है।

मुख्य-शब्द : परिणामवाद, विवर्तवाद, सत, असत्, परा-अपरा-प्रकृति, अनिर्वचनीय ।

दार्शनिक क्षेत्र मे कार्य-कारणवाद के विभिन्न स्वरूप मान्य है, जिनमे से एक प्रमुख सिद्धान्त सत्कार्यवाद भी है, जिसे सांख्यदर्शन, शांकर वेदान्त, गीता तथा वैष्णव वेदान्तियों ने अपने दर्शन मे स्वीकार किया है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण मे अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इसके विपरीत कारणवाद का दूसरा रूप असत्कार्यवाद है, जिसे न्याय वैशेषिक आदि दर्शन मानते है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पति से पूर्व कारण मे अविद्यमान है। कार्य एक नवीन सृष्टि है तथा कार्य व कारण मे कोई सम्बन्ध नही है परन्तु सत्कार्यवाद का सिद्धान्त कार्य व कारण मे अभिन्न सम्बन्ध मानता है। सत्कार्यवाद के दो उपसिद्धान्त है- परिणामवाद व विवर्तवाद।

विवर्तवाद के अनुसार कारण का कार्य मे वास्तविक रूपान्तरण नही होता है, बल्कि आभास (विवर्त) होता है। परिणामवाद के अनुसार कारण ही कार्य मे रूपान्तरित होता है। सांख्यदर्शन व रामानुज दोनो ही परिणामवाद को स्वीकार करते है। सांख्य का परिणामवाद, प्रकृति परिणामवाद के रूप मे जाना जाता है जिसके अन्तर्गत यह माना गया है कि यह जगत् प्रकृति का परिणाम है जो कि अचेतन तत्व है। रामानुज का ब्रह्म परिणामवादी है। अर्थात चेतना, चेतन विश्व, ईश्वर का तात्विक परिणाम है। गीता का सत्कार्यवादी सिद्धान्त भी ''ब्रह्मपरिणामवाद'' ही कहलाता है।

(अ) गीता का ब्रह्मपरिणाम

गीता का आमुर्ं दार्शनिक सिद्धांत है, "जो असत् है उसका भाव नही हो सकता है और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता।"

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।[2]

''असतः'' पद परिवर्तनशील शरीर, इन्द्रिय और इन्दियों के विषयों सहित समस्त जड़वर्ग का वाचक है और उसकी सत्ता यानि भाव नही है। तथा ''सतः'' पद परमात्मतत्व का वाचक है जो नित्य व सर्वव्यापी है तथा उसका अभाव नहीं है।[3]

Scanned by CamScanner

शंकाराचार्य के अनुसार सत् (वास्तविक) वह वस्तु है जिसके सम्बन्ध में हमारी चेतना कभी विफल नहीं होती और असत् (अवास्तविक) वह वस्तु है जिसके सम्बन्ध में हमारी चेतना विफल रहती है।[4] अतः पदार्थों के सम्बन्ध में हमारी चेतना बदलती रहती है क्योंकि वे परिवर्तनशील है, क्षणिक है परन्तु अस्तित्व के सम्बन्ध में नहीं बदलती है। अवास्तविक ने जो कि क्षणिक है, अपरिवर्तनशील वास्तविक को ढक रखा है जो कि नित्य है।

आचार्य रामनुज ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि शरीर असत् है तथा आत्मा वास्तविक (सत्) है। सत् अर्थात् **त्रिकालाबाधितं सत्यम्** (जो तीनों कालों में एक सा रहता है वह सत् है) जो सभी कालों में में बदलता रहता है वह असत् है।

इन व्याख्याओं से यही सिद्ध होता है कि गीता का यह मत सत्कार्यवाद पर आधारित है। जिसके अनुसार कारण व कार्य में अभिन्न सम्बन्ध है तथा कार्य उत्पत्ति से पूर्व कारण में निहित रहता है। गीता का यह मत उसकी सम्पूर्ण तत्वमीमांसा में दृष्टिगोचर होता है। गीता का सत्कार्यवाद ''ब्रह्म परिणामवाद'' है अर्थात् यह परा-अपरा- प्रकृति ईश्वर का ही तात्विक परिणाम है। अर्थात् "सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले है और ईश्वर सम्पूर्ण जगत का प्रभव (उत्पति) तथा प्रलय (विनाश) है।[5] डॉ0 राधाकृष्णन के मतानुसार यह सारा संसार अपने सब अस्तित्वमान् पदार्थों के साथ ईश्वर से उत्पन्न हुआ है और प्रलय के समय उसी में लीन हो जाता है।[6]

बालगंगाधर तिलक ने गीता के कारणता सिद्धांत की व्याख्या कुछ अलग प्रकार से की है। **"नासतो विद्यते भावो, ना भावो विद्यते सतः।**''यद्यपि सत्कार्यवाद के समान दृष्टव्य है, परन्तु फिर भी इसका अर्थ अद्भुत व अनोखा है। इसका अर्थ इस प्रकार है कि सत् अर्थात् "जो है'' उसका अस्तित्व (भाव) तथा असत् अर्थात् जो नहीं है, उसका अभाव, ये दोनों नित्य अर्थात् सदैव कायम रहने वाले है।[8] इस कारण यद्यपि ये सत्कार्यवाद के समान दृष्टिगोचर होता है तथापि इसकी समता केवल कार्यकारणात्मक सत्कार्यवाद की अपेक्षा अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञान शास्त्र के सिद्धान्तों के साथ अधिक है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार किसी कार्य के वर्तमान द्रव्यांश और गुण, मूल कारण में भी किसी न किसी रूप में स्थिर रहते है यह सिद्धान्त सिर्फ कार्यकारण भाव के ही सम्बन्ध मे उपयुक्त होता है। परन्तु अर्वाचीन पदार्थ विज्ञान शास्त्र का सिद्धान्त इससे अधिक व्यापक है। क्योंकि इसके अनुसार कार्य का कोई भी गुण ''कारण'' के बाहर के गुणों से उत्पन्न नहीं हो सकता तथा जब कारण को कार्य का स्वरूप प्राप्त होता है, तब उस कार्य में रहने वाले द्रव्यांश और कर्मशक्ति का कुछ भी नाश नहीं होता और पदार्थ की भिन्न-भिन्न अव्यवस्थाओं के द्रव्यांश और कर्मशक्ति के जोड़ का वजन भी सदैव एक ही सा रहता है।[9] ऐसा तिलक का मानना है।

परन्तु गीता में कार्य-कारण का सिद्धान्त सत्कार्यवाद पर ही आधारित है। गीता में कई स्थानों पर यह बताया गया है कि परम ईश्वर इस जड़ चेतन परा-अपरा प्रकृति का मूल कारण है अर्थात ये जीव-अजीव, चित्-अचित्, परम ईश्वर का ही तात्विक परिणाम है। भगवान ने गीता में कहा है कि ''महत् ब्रह्म-रूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतन समुदाय रूप गर्भ को स्थापन करता हूँ और उसी जड़-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।[10] इसकी पुष्टि के लिए अन्य श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि परा एव अपरा प्रकृति दोनों ही ईश्वर के अंश है।[11] तथा समस्त संसार पुरूष एवं प्रकृति या चेतन एवं अचेतन शक्तियों के सहयोग से उत्पन्न होता है। ईश्वर ही वस्तुतः समस्त ब्रह्माण्ड का उद्गम और प्रलय का स्थान है।[12] ईश्वर से भिन्न कुछ भी नहीं है इस संसार की सभी वस्तुऐं धागे में मणियों की तरह ईश्वर में गुंथी हुई हैं।[13]

Scanned by CamScanner

गीता के "पुरूषोत्तम योग" के अध्याय में उसके सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को अधिक बल मिलता है। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि संसार में क्षर और अक्षर दो प्रकार के पुरूष है, इनमें क्षर पुरूष नाशवान शरीर है तथा अक्षर पुरूष अविनाशी जीवात्मा है। परन्तु इन दोनों से उत्तम पुरूष वह है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण पोषण करता है। जिसे परम आत्मा अर्थात् पुरूषोत्तम कहा जाता है।[14] गीता की दृष्टि में यह गतिमय जगत् भगवान् की सृष्टि है। विश्व के उद्धेश्य की दृष्टि से पुरूषोतम सारे संसार का स्वामी है जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है। इस प्रकार ईश्वर ही अन्तिम रूप से सृष्टि का मूल कारण है। "पुरूषोत्तम योग" के अध्याय में ही सत्कार्यवाद का परिणामवादी रूप भी दृष्टिगोचर होता है। वहाँ एक स्थान पर यह कहा गया है कि -**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन** अर्थात् इस लोक में जीव ही मेरा सनातन अंश है, जो कि प्रकृति में स्थित मन तथा पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है।[15] इस तरह के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है गीता के तत्वदर्शन का आधार सत्कार्यवाद का ब्रह्म परिणामवादी रूप है।

(ब) सांख्यदर्शन का प्रकृति परिणामवाद

"सत्कार्यवाद" सांख्य दर्शन का अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार सत् से सत् की सत्ता होती है। एक जले हुये दीपक से ही दूसरा दीपक जल सकता है। कार्य की सत्ता, उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है अर्थात् जो पदार्थ जिसमें पहले से विद्यमान होता है तो वह उससे उत्पन्न हो जाता है और यदि वह उसमें पहले से विद्यमान नहीं है तो उससे उत्पन्न भी नहीं हो सकता है जैसे: तिलों में तेल, मिट्टी में घट, तन्तु में पट, स्वर्ण में कुण्डल और बीज में वृक्ष इत्यादि। यद्यपि भारतीय दर्शन के कुछ अन्य सम्प्रदाय इस मत को नहीं मानते हैं। न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। उनका कहना है कि यदि कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहती है तो फिर कार्य के उत्पन्न होने का आशय ही क्या रह जाता है, तथा कार्य व कारण के भेद को बताने के लिए क्या आधार उपस्थित है? किन्तु सांख्याकारों का कहना है कि यद्यपि कारण से "कार्य" भिन्न दिखाई देता है और नाम भी दोनों का एक नहीं है फिर भी वस्तुतः "कारण" से "कार्य" भिन्न नहीं है, भिन्नता तो धर्म की है। उनकी दृष्टि से "सत्" सनातन और अभावरहित है, इसलिए "असत्" से "सत्" की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका में "असत्कार्यवाद" के खण्डन और "सत्कार्यवाद" की स्थापना के लिए पाँच युक्तियां दी है-

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।[16]

कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है इसकी सिद्धि में ये हेतु प्रस्तुत किये जाते है- सत् (विद्यमान पदार्थ) असत् (अविद्यमान पदार्थ) प्रथम सिद्धान्तः- "असदकरणात्"- (असत् अकरणात्) इसका यह तात्पर्य है कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कारण के व्यापार के पहले कार्य को असत् माना जाए तो उसे (कार्य को) सत् बनाना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। अर्थात् सत् कार्य की उत्पत्ति असत् से नहीं हो सकती क्योंकि यह व्यवहार विरूद्ध है।

जगत् में हमें कहीं भी यह देखने को नहीं मिलता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। यदि असत् से सत् की उत्पत्ति होती तो बालुका (बालू रेत) से भी तेल निकाला जा सकता है, और सींग से भी दूध की उत्पत्ति हो जाया करें। परन्तु ऐसा नहीं होता है अपितू तिलों से तैल निकाला जाता है क्योंकि तिलों में तेल पहले से अव्यक्त रूप से विद्यमान होता है जिसे कोल्हू आदि यन्त्रों के द्वारा तिलों से निकाल लिया जाता है। इसी प्रकार चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों नहीं किया जाए, पीले से नीले रंग की उत्पत्ति नहीं होती है। नीला रंग को हजारों कुशल कारीगरों द्वारा भी पीला नहीं किया

Scanned by CamScanner

जा सकता। "न हि बालं शिक्षितसहस्रादि पीतं कर्तुं शक्नुवन्ति।"[1] यह सिद्धान्त गीता के इस वक्तव्य के अनुकूल है कि "असत् का कभी भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता।"[2]

असदकरणात् "कारिका[9] की मूल युक्ति है शेष सभी इसकी पुष्टि करती है।

द्वितीय सिद्धान्त

उपादान ग्रहणात् :- जो पदार्थ जिससे सम्बद्ध (जुड़ा हुआ) होता है वह उसका उपादान कारण होता है। उपादान ग्रहण से भी यह सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् है। उपादान ग्रहणात् से अर्थ विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति के लिए उससे सम्बद्ध विशिष्ट उपादान कारण को ग्रहण करने से है। अर्थात् किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए उससे सम्बन्धित विशिष्ट उपादान कारण को लिया जाता है। जैसे- सरसों के तेल के लिये तिल, स्वर्णाभूषण के लिए सोना, घड़े के लिए मिट्टी उपादान कारण है। अब यदि कार्य को असत् माना जाता है तो इसका अर्थ होगा कि कार्य का अपने उपादान कारण के साथ सम्बन्ध नहीं है क्योंकि जो असत् है उसका सत् के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कारण ही नहीं होगा तो कार्य की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं होगी।

वाचस्पति मिश्र ने विशेष कार्य के लिए विशेष उपादान कारण लेने के पीछे यह बात कही है कि कार्य व कारण में एक आन्तरिक सम्बन्ध होता है, यह सम्बन्ध हमेशा दो सत् वस्तुओं में ही होता है दो असत् या एक सत् व एक असत् वस्तु में नहीं हो सकता। यदि कार्य को असत् मान लिया जाए तो कार्यकारण के सम्बन्ध नहीं हो सकता। कार्य को "असत्" न मानने के पीछे एक मुख्य बात यह भी है कि ऐसा मान लेने पर सब वस्तुओं से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, परन्तु यह अतार्किक है, युक्ति सिद्ध नहीं है। अतः यह मानना होगा कि कार्य व कारण दोनों ही सत् है।

तृतीय सिद्धान्त

"सर्वसम्भवाभावात्" :- (सर्व सम्भव अभावात्) सभी वस्तुऐं भाव से उत्पन्न होती है अभाव से नहीं है, सभी कारणों से नहीं। सभी कारणों से सभी कार्य उत्पन्न नहीं होते। सांख्याचार्यों का मानना है कि यदि कारण कार्य में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता तथा विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट उपादान कारण की आवश्यकता नहीं होती तो "अमुक कारण से ही अमुक कार्य की उत्पत्ति होती है" ऐसी व्यवस्था नहीं रहेगी। अतः सम्बद्ध कारण के सम्बद्ध कार्य ही उत्पन्न होता है। इसलिए यदि हमें घी चाहिये तो मक्खन की आवश्यकता होती है, मक्खन के लिए दही तथा दही के लिए दूध की आवश्यकता होगी। यदि यह व्यवस्था न हो तो सभी पदार्थ अभाव से भी उत्पन्न हो जाया करें। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि सभी पदार्थ भाव (सत्ता, पूर्व में स्थिति) से ही उत्पन्न होते है।

चतुर्थ सिद्धान्त

"शक्तस्यशक्यकरणात्":- (शक्तस्य शक्य करणात्) समर्थ से समर्थ की उत्पत्ति होती है। अर्थात् जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक कारण में अपने कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है तथा वह उसी को उत्पन्न करता है। जैसे- बबूल का बीज, बबूल के वृक्ष को तथा आम की गुठली आम के वृक्ष को ही उत्पन्न करने में समर्थ है। इस प्रकार सांख्याचार्यों का यह मानना है कि प्रत्येक कारण में विशिष्ट योग्यता, सामर्थ्य या शक्ति होती है, जो कि अपने अनुरूप कार्य विशेष को ही उत्पन्न करती है जो जिसको उत्पन्न करने से समर्थ नहीं होता उससे उस पदार्थ की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती।

पंचम सिद्धान्त

"कारणाभावाच्च" :- (कारण भावात् च) अर्थात् कार्य अपने कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता है। कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप है। कारण का जो स्वभाव होता

Scanned by CamScanner

है वही स्वभाव कार्य का भी होता है। मिट्टी से बने घड़े का स्वभाव भी मिट्टी जैसा होता है। अर्थात् वह मूल रूप में मिट्टी ही है। कार्य कारणात्मक होता है। अर्थात् तात्विक रूप से कार्य-कारण से अभिन्न होता है तथा दोनों का भेद व्यावहारिक है।

इन्ही युक्तियों के आधार पर संख्या के ''सत्कार्यवाद'' की स्थापना हुई। जिसके आधार पर यह माना जाता है कि यह समस्त संसार रूप जो ''कार्य'' है वह मूल प्रकृति रूप ''कारण'' में अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहता है। इस प्रकार सांख्य का यह सिद्धान्त ''प्रकृति परिणामवाद'' है। अर्थात् कार्य उत्पत्ति से अपने कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि कार्यरूप पदार्थों से बनी है। इस कार्य रूप पदार्थों के मूल में निश्चित ही कोई कारणरूप मूल तत्व विद्यमान है जिसके संयोग से उनकी उत्पत्ति होती है। सांख्याचार्यों ने इसी मूल कारण को ''प्रकृति' कहा है। परिणामवाद का अर्थ है एक तत्व का दूसरे तत्व में वास्तविक परिवर्तन। युक्तिदीपिका की नौवी कारिका में यह बताया गया है कि अवस्थित द्रव्य के एक धर्म की निवृत्ति और दूसरे धर्म के प्रादुर्भाव का नाम ही परिणाम है[19] - अर्थात् कार्य सूक्ष्मरूप में अपने कारण में विद्यमान रहता है। प्रकृति के ये सभी कार्य-बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रिया, पाँच तन्मात्र तथा तन्मात्रों से उत्पन्न पंच महाभूत, आदि उसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते है। तथा ''सृष्टि के विकास'' या ''प्रकृति के परिणाम'' के द्वारा क्रमबद्ध रूप से उद्भूत होते है।

यही सांख्यदर्शन का सत्कार्यवाद है। जो कि आधूनिक विज्ञान के अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त ऊर्जा संरक्षण के सिद्धान्त के समान ही है।

"To understand samkhya casuality it must be viewed in the context of the process of cosmic evolution. The theory of conversation of energy is conspicuous in the samkhya system. The total amount of effect and the total amount of cause are preserved in the ubiquitous prakriti. It neither increases, nor decreases. There is no total destruction of a thingand no new creation".[20]

(स) शंकर वेदान्त का विवर्तवाद

शंकर का कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त विवर्तवाद कहलाता है। ये नैयायिकों के असत्कार्यवाद की आलोचना करते है, तथा सत्कार्यवादी विचारों को स्वीकार करते है। शंकराचार्य ने अपने वेदान्तभाष्य में न्याय के असत्कार्यवाद का खण्डन किया है। इस सम्बन्ध में उनकी युक्तियां सांख्यकारिका से समानता रखती है। पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि असत्कार्यवाद विचारधारा के अनुसार ''कार्य एक नवीन सृष्टि है'' तथा वह (कार्य) उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता है। शंकराचार्य असत्कार्यवाद के विरोध में यह कहते है कि यदि घट को उत्पत्ति से पहले असत् मान लिया जाये तो घट की उत्पत्ति-क्रिया ''अकर्तृक'' या बिना कर्ता के हो जायेगी। जबकि कार्य और कारण में अश्व (घोड़ा) और महिषी (भैंस) के समान भेद नहीं प्रतीत होता है इसलिए कार्य व कारण को एक मानना चाहिये।

बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में सत्कार्यवाद का समर्थन किया गया है जिसे शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में ग्रहण किया है। जिसके अनुसार ''जब कारण एक कार्य को उत्पन्न करता है तो वह दूसरे कार्य का तिरोधान कर देता है, एक कारण में अनेक कारण नहीं रह सकते। अभिव्यक्ति होना ही कार्य की उत्पत्ति है। अभिव्यक्ति का अर्थ है ''ज्ञान का विषय हो जाना।'' अविद्यमान घड़ा सूर्य के उदित होने पर भी नहीं दिख सकता। इसी प्रकार असत् कार्य की कभी प्रतीति नहीं हो सकती। जब तक मिट्टी की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक मिट्टी के अवयव घटादि के आकार में रहते है। इसलिए उत्पति से पहले घट मौजूद रहता है सिर्फ उसके स्वरूप पर आवरण चढा रहता है।[21]

Scanned by CamScanner

इस विवेचन से यह नहीं समझना चाहिये कि शंकर व सांख्य के कार्यकारण सम्बन्धी विचारों में समानता है। मूलतः शंकराचार्य ने सांख्य के परिणामवाद की भी आलोचना की है। यह कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन के परिणामवाद ने ही शंकर के विवर्तवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक सत्कार्यवाद को तो मानते है परन्तु वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि ''कारण का कार्य में वास्तविक परिवर्तन होता है।''शंकर के मतानुसार कारण का कार्य में रूपान्तरण नहीं होता बल्कि आभास मात्र होता है। परिणामवाद अतार्किक है तथा परिणामवाद व सत्कार्यवाद एक दूसरे के विरोधी है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने सूत्र ''**रचनानुपत्तेश्चनानुमानम**''[22] की व्याख्या करते हुए सांख्य के प्रकृति कारणवाद का खण्डन किया है।उनके मतानुसार अचेतन आकृति रचना सम्पन्न जगत् का कारण नहीं हो सकती। ''वेदान्तपरिभाषा'' में परिणामवाद व विवर्तवाद के भेद को स्पष्ट किया गया है-

परिणामो नामोपादान समसताक कार्यापत्तिः।
विर्वतो नामोपादान विषमसत्ताक कार्यापत्तिः।

अर्थात् ''उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और विषम कार्य विवर्त। यह सादृश्यता और विषमता सत्ता की श्रेणी या प्रकार में होती।'' जैसे दही, दूध का परिणाम (विकार) है और सर्प, रस्सी का विवर्त (छिपा हुआ रूप) है। दही और दूध की सत्ता व्यवहारिक दृष्टि से सिद्ध है। परन्तु सर्प की सत्ता केवल कल्पना में है देश और काल में नहीं। असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवत् वस्तुन्यवस्त्वारोपो अधयारोपः। वस्तु में अवस्तु के आरोप का नाम अध्यारोप है। विवर्त में वस्तु का रूप छिपा हुआ होता है और विकार में वस्तु अपने समस्त रूप को छोड़कर दूसरे स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है। रस्सी में सर्प की सत्ता अध्यारोप है। सीपी में चान्दी का आभास विवर्त है और दूध का दही में परिवर्तन विकार है।

स्पष्ट है कि कार्यो में नानात्व या कारण के भिन्न-भिन्न प्रकार व्यवहारिक दृष्टि से सत् है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत् है। सदसत् होने से वे अनिर्वचनीय है। अतः शंकर वेदान्त का कार्यकारणवाद अनिवर्चनीयवाद या सत्कार्यवाद कहा गया है।

शंकर की तत्वमीमांसा उसके विवर्तवादी धारणा पर अवलम्बित है। अर्थात् एकमात्र ब्रह्म ही सत् है। वह माया की उपाधि से जीव व जड़ जगत् में विभिन्न या अनेकता रखते हुए दिखाई पड़ता है। सारे कार्य उस ब्रह्म के विवर्त या भ्रान्तियुक्त मिथ्या प्रपंच है।

इस प्रकार शंकर का कार्य-कारण सम्बन्धी विचार सांख्य के प्रकृति परिणामवाद तथा गीता के ब्रह्म परिणामवाद से भिन्न है। विवर्तवादी विचारधारा कार्य-कारण के सम्बन्ध में बिल्कुल भिन्न विचारधारा है जो कि शंकर के अद्वैत वेदान्त का आधार है।

संदर्भ-सूची

1. चन्द्रधर शर्मा, ''भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन'', पृ० 303
2. गीता, 2/16
3. जयदयाल गोयन्दका, श्रीमदभगवद्गीता तत्व विवेचनी हिन्दी टीका, पृ० 70
4. डॉ० एस० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, पृ० 103
5. ''परा-अपरा'' से तात्पर्य चेतन जीव व जड़ शरीर से है।
6. गीता, 7/6
7. भगवद् गीता राधाकृष्णन, पृ० 196
8. श्री मदभगवद्गीता रहस्य, तिलक, पृ० 627।

Scanned by CamScanner

9. तिलक का "गीता रहस्य" पृ.सं. 156-157, सातवाँ प्रकरण-कपिल सांख्य शास्त्र अथवा क्षराक्षर विचार
10. गीता, 14/3
11. गीता, 7/4, 5,
12. गीता, 7/6
13. मत्तः परतंर नान्याकिंचिदस्ति धनंजय
मयि सर्वमिदं पोतं सूत्रे मणिगणा इव।। गीता, 7/7
14. गीता, 15/16 व 17
15. गीता, 15/7
16. 9 वी कारिका
17. डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र, सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा, 146
18. गीता, 2/16
19. डॉ० नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन, पृ० 379
20. Dr. S.N. Joshi, "A critique of Indian Dualism", p. 101
21. सर्वं हि कारण.....कार्यस्य चाभिव्यक्ति लिगंत्वात्।..... अभिव्यक्ति साक्षादविज्ञानालम्बनत्व..... घटादिकार्यस्यावृतत्वादनुपलब्धि। वृह उप. भा. 1/2/11।
22. रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् - 2/2/1 ब्र.सू.श्शा.भा.।

Scanned by CamScanner